Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के तत वाद्य तथा उनका महत्व

DR. RITA DHANKAR

Associate Professor, Bhagini Nivedita University, Delhi University Kair, New Delhi

सार संक्षेपिका

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में अनेक वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है परंतु इन सभी में तत वाद्यों का अपना अलग स्थान है। वर्तमान समय में ततत वाद्यों ने ना केवल शास्त्रीय संगीत अपितु अन्य संगीत विधाओं में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लकड़ी के बने ढाँचे पर ताँबे व लोहे के तार चढ़ाकर उनपर मिज़राब, गज या उँगलियों द्वारा प्रहार करके ध्वनि की उत्पत्ति जिन वाद्यों पर होती है, वे तत वाद्य' कहलाते हैं तत वाद्यों को ही 'तंत्र-वाद्य' कहा जाता है, क्योंकि इन वाद्यों में तार लगे होते हैं जैसे सितार, सरोद, तानपूरा, सुरबहार, सुरसिंगार, स्वरमंडल, रबाब आदि। आधुनिक समय में तंत्री वाद्यों के द्वारा विभिन्न प्रकार के रसों आदि की अभिव्यक्ति बड़ी ही सुगमता एवं मधुरता से की जाती है। इन वाद्यों का उपयोग सुगम संगीत, फिल्मी संगीत, लोक संगीत इत्यादि स्थानों पर किया जाता है। आधुनिक समय में संगीत के क्षेत्र में यह वाद्य यंत्र अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

बीज शब्द: संगीत, शास्त्रीय, तत, सितार, वीणा, सरोद, तानपूरा, सुरबहार, स्वरमंडल, रबाब, छपक, गमक, जोड़।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय संगीत में वाद्यों का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इन वाद्यों में तत् वाद्य, अवनद्ध वाद्य, सुषिर वाद्य, घन वाद्य प्रमुख रहे हैं। परंतु तत वाद्यों का प्रयोग विशेष रूप से हर प्रकार के संगीत में होता रहा है। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के प्रमुख तत वाद्य निम्न हैं-

सितार

प्रचलित साज़ों में सितार अत्यंत लोकप्रिय साज़ है। इसके उदभव के संबंध में तीन मत पाए जाते हैं। एक मत के अनुसार अमीर खुसरो ने इसका आविष्कार पर्शियन वाद्य 'ऊद' के आधार पर किया। दूसरा मत यह है कि प्राचीन भारत में 'त्रितन्त्री' अर्थात् तीन तारों वाली जो वीणा रही, उसी का परिवर्तित रूप 'सितार' है। 'सितार' शब्द पर्शियन 'सेह-तार' से बना है, जिसका अर्थ 'तीन तंत्रियों वाली वीणा' है। एक अन्य मत के अनुसार, भारत की प्राचीन सप्ततंत्री' का रूप बिगड़कर 'सत्तार' और फिर 'सितार' हो गया।

कर्नाटक संगीत में जो स्थान सरस्वती वीणा का है, वही हिन्दुस्तानी संगीत में सितार का है। सितार अपनी महत्ता के साथ-साथ उतना ही या संभवतः उससे भी अधिक लोकप्रिय है। अनेक सितार-वादकों को सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने अब भारत से बाहर भी सम्मान और प्रसिद्धि दी है। आज यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारतीय वाद्य है, चाहे इसके पूर्वज हमारे देश के सीमा-प्रान्तों या उनके पार से ही क्यों न आए हों। अभी हाल के वर्षों तक यह विश्वास था कि इस वाद्य के आविष्कारक 13वीं शताब्दी के कवि-संगीतकार अमीर खुसरो थे। यह पुष्टि करने योग्य तथ्य से अधिक लोक-विश्वास प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञात विश्वसनीय पुस्तकीय प्रमाण 18वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं हैं। 18 वीं शताब्दी के एक लेखक का इतना कहना पर्याप्त है कि तंबूरा ही सितार के नाम से मशहूर हुआ है।

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

सितार में निचली ओर लगभग गोल तुंबा होता है। जब तुंबा चपटा होता है तो वाद्य को 'कछुआ सितार' कहा जाता हैं तुंबा ग्रीवा के एक ओर चिपका होता है और इसका ऊपरी भाग काष्ठफलक से ढका होता है, जो चपटा या थोड़ा-सा फूला हुआ होता है। ग्रीवा से एक लम्बा दंड जुड़ा होता है, जिसे 'दंडी' कहा जाता है। इसके ऊपर पीतल के उत्तल पर्दे लगे होते हैं, जिन्हें वांछित स्थान तक खिसकाया जा सकता है। इस प्रकार के सचल पर्दों की व्यवस्था को 'चल थाट' कहा जाता है। अधिक कीमती सितारों में दूर वाले सिरे पर एक और तुबा दंड के नीचे लगा होता है। राग बजाने के लिए धातु के पाँच तार मुख्य मेरु के ऊपर कसे होते हैं। इसके अतिरिक्त सुर के लिए दो तार होते हैं, जिन्हें 'चिकारी' कहा जाता है। इस वाद्य में मुख्य तंत्रियों के नीचे ग्यारह से सत्रह तक कितने ही तार अतिरिक्त गूँज के लिए लगे होते हैं, जिन्हें 'तरब' कहा जाता है (ये कम कीमत के सितारों में नहीं होते)। मुख्य तंत्रियाँ और चिकारी विशेष रूप से चैड़े मुख्य मेरु के ऊपर से गुज़रती हैं, जबकि तरबें अपेक्षाकृत छोटे और चपटे मेरु के ऊपर से गुज़रती हैं, जो मुख्य मेरु के नीचे ही स्थिति होता है। मेरु अस्थि, हिरण के सींग अथवा कठोर लकड़ी का बना होता है। तार तर्जनी उँगली में मिज़राब पहनकर झंकृत किए जाते हें और उँगलियों की गति हथेली के दूर-पास, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे होती है। चिकारी का उपयोग आधार-स्वर देने के लिए किया जाता है।

एक मत यह है कि यह वीणा प्राचीन त्रितंत्री से विकसित हुआ वाद्य है। 'त्रितंत्री' संस्कृत नाम है, जिसका अर्थ है-'तीन तंत्रियों वाला वाद्य'। फारसी में 'सेह' का अर्थ है 'तीन' और 'तार' का अर्थ है 'तंत्री' अतः वह वीणा जिसमें तीन तार हों, 'सेह-तार' कहलाई। कालांतर में उसका नाम 'सितार' हो गया। परन्तु नामों में चाहे जितनी समानता हो, संरचनात्मक रूप से दोनों बिल्कुल ही अलग प्रकार के वाद्य हैं। सभी उपलब्ध संकेत यह संशय उत्पन्न करते हैं कि त्रितंत्री से वीणा विकसित हो ही नहीं सकती। अतः इससे अधिक समानता वाले वाद्य के कश्मीरी सितार 'सैतार' है, जो सितार से छोटी वीणा है। इसका दंड तुंबेनुमा स्वर-पेटी से निकलता है और ताँत के कई परदों से युक्त होता है। इसमें एक सँकरा अथवा चैड़ा मेरु होता है तथा सात तार होते हैं। इस प्रकार इस वीणा का आकार, ताँत के सचल परदे और इसका यश हमारी संगीत-सभाओं के वाद्यों में प्रमुख है।

पुराने सितार-वादकों में अमृत सेन, रहीम सेन और निहाल सेन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तानसेन-परम्परा के निर्मल शाह को भी हम नहीं भूल सकते। इन सबका सितार-वादन धुरपद और वीणा की परम्परा के अन्तर्गत ही था। उस समय वीणा के अलावा और कोई ऐसी वाद्य-शैली नहीं थी, जिसके अनुशासन को सितार-वादक मानते और जिसके सिद्धान्तों और नियमों का पालन करते। अमृत सेन, रहीम सेन और निहाल सेन से संबंद्ध कुछ एक सी घटनाओं का वर्णन मिलता है जिससे उनके वादन के अलौकिक एवं दिव्य प्रभावों का पता चलता है। उनका सितार-वादन सच्ची साधना का ही एक रूप था। आजकल के सितार-वादन की शैली से उनकी शैली बिल्कुल अलग थी।

सितार को यह महत्व और सम्मान बहुत पहले नहीं मिला। अब से कोई सौ वर्ष पहले इसे सम्मानजनक भी नहीं समझा जाता था। सम्मान का स्थान तब रुद्र वीणा को प्राप्त था। वास्तव में वीणा के पारम्परिक उस्ताद अगर कभी सिखाते भी थे तो अपनी पकड़ से बाहर के किसी व्यक्ति को वीणा कभी नहीं सिखाते थे। वीणा घराने का विशेष अधिकार थी। अगर किसी बाहरी आदमी ने उनके ज्ञान के दुर्ग का द्वार कभी खटखटाया भी, तो उसे सितार जैसा कोई वाद्य सिखा दिया करते थे। सितार और उसकी शेली को प्रात्साहन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिलने लगा। इसी समय में अमीर खाँ, बरकतुल्ला खाँ, बहादुर खाँ और गुलाम रज़ा जैसे महान् उस्ताद हुए। ये असाधारण रूप से श्रेष्ठ वादक कलाकार थे,

जिनके मधुर संगीत ने सितार को सम्मानजनक स्थान तक उठाया और इसे व्यापक मान्यता दिलवाई। संगीत में पसन्द बदल रही थी। मधुर वीणा और उसकी शान्त शैली अपना असर खो रही थी, ठीक वैसे ही जैसे धुरपद-गायकी और पखावज-वादन ख़्याल और तबला के लिए जगह छोड़ रहे थे। एक लयात्मक शैली विकसित हो रही थी, जिसने सितार-वादन को प्रोत्साहित किया। अनेक सितारियों में से मसीत खाँ और गुलाम रज़ा का विशेष उल्लेख यहाँ किया जाना चाहिए क्योंकि वे वादन की उन शैलियों के जनक थे जो आज के वादन का मुख्य आधार हैं। मसीत खाँ की रचनाएँ मसीतखानी बाज के रूप में विकसित हुई, जो विलम्बित लय में होती हैं और ताल से तकरार नहीं करती तथा बढ़त के लिए पयाप्त गुंजाइश देती हैं। दूसरी ओर गुलाम रज़ा के नाम पर बना रज़ाखानी बाज द्रुत और चपल हैं। इस प्रकार सितार के अपनी भाषा और मुहावरे के साथ मुख्य वीणा के रूप में विकसित होने के दौरान वीणा के गम्भीर आलाप का स्थान सुरबहार ने लिया, जो सितार का ही एक प्रकार है।

जहाँ तक सितार अमीर खुसरो का आविष्कार होने की बात है, यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। खुसरो भारतीय तथा ईरानी संगीत का अच्छा ज्ञाता था यह बात सही है, परन्तु उसके पूरे साहित्य में सितार का नाम-निर्देश तक नहीं। प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी ने समकालीन दरबारी संगीत का विस्तृत विवरण दिया है। इसमें प्रसिद्ध संगीतज्ञ मुहम्मदशाह द्वारा बजाये जाने वाले 'चंग' नामक वाद्य का उल्लेख किया है, जो वीणा से मिलता-जुलता था। सितार का नए वाद्य के रूप में आविष्कार उस समय होता तो इसका उल्लेख बर्नी द्वारा अथवा समकालीन साहित्य में अवश्य किया जाता। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार बुलफज़ल ने उस समय के भारतीय एवं ईरानी साज़ों का उल्लेख किया है, जिनमें सितार, सारंगी या तबले का कोई जिक्र नहीं। हाँ, इस समय 'जन्त्री' नामक वाद्य लोक संगीत में प्रचलित था जिसमें दो तुम्बे थे। 6 तंत्रियाँ थीं और 16 पर्दे थे। यह वाद्य प्राचीन त्रितंत्री का विकसित रूप था। अकबरी दरबार में इसको प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं था। इस सम्बंध में एक बात ध्यान देने-योग्य है कि सितार का उल्लेख तुर्की तथा प्राचीन ईरानी साहित्य के अलावा भारत में उपलब्ध पर्शियन साहित्य में पाया जाता है। सितार की मुख्य विशेषता उसके परदों में है, जिनको वांछित स्वरावली में बाँधा जा सकता है। अमीर खुसरो से बहुत पहले भारत में परदे वाली वीणा प्रचलित थी। उनके प्रायः समकालीन पं0 शारंगदेव के ग्रंथों से ऐसी वीणाओं का प्रचार प्रमाणित होता है। यदि तत्कालीन त्रितंत्री वीणा में ही यथोचित परिवर्तन कर सितार का प्रचलन अमीर खुसरो ने किया हो तो आश्चर्य नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें सितार का आविष्कर्ता मानने के बजाए 'प्रचारक' कहना अधिक श्रेयस्कर होगा।

लोकप्रिय सितार-वादन में इटावा के सितार-वादकों का सबसे ज़्यादा नाम हुआ। उस ज़माने में इटावा के इमदाद खाँ और इनायत खाँ सितार-वादकों का जैसा नाम हुआ, वैसा औार किसी का नहीं हुआ। इनका सितार का बाज पिछले ज़माने में सबसे ज़्यादा लोकप्रिय था और दर्जनों सितार के विद्यार्थियों ने उसकी नकल की। बहुत से लोगों को सितार सीखने का शौक उनका सितार सुनकर ही हुआ। इमदाद खाँ सितार के माने हुए उस्ताद थे, जिन्होंने अपना अलग घराना स्थापित किया। यह बाज बंगाल में विशेष रूप से सम्मानित हुआ। इस बाज की शिक्षा कलकत्ते में इमदाद खाँ के पुत्र इनायत खाँ ने अपने बहुत से शिष्यों को काफी समय तक दी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके बहुत से शिष्य सितार बड़े अच्छे ढंग से बजाने लगे।

उस्ताद इनायत खाँ का सितार-वादन सबसे ज़्यादा लोकप्रिय हुआ। सैंकड़ों सितार सीखने वालों को उनके सितार से भारी प्रोत्साहन मिला। आधुनिक युग में सितार वादन के आम प्रचार में उनका बहुत बड़ा योगदान है। पिछले तीस-चालीस

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

वर्षों के बाज का ही अनुकरण करते रहे हैं। इस बाज का अपना एक अलग ढंग और चरित्र है, जिसमें जोड़, आलाप और गत प्रधान हैं। स्वर, लय ओर ताल का बहुत बढ़िया काम इनायत खाँ के सितार में था। उनके शिष्यों में प्रमुख सितार-वादकों में विलायत खाँ और रविशंकर का नाम सबसे ज़्यादा है। रविशंकर (स्वर्गीय) उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के परम शिष्य थे। अब्दुलहलीम जाफ़र भी अच्छे सितार-वादक थे। उनके बाज में आसाधारण कला-कौशल था। तरुण सितार-वादकों में भी कलाकार हैं। यहाँ उन सबके नाम गिनाना सम्भव नहीं। यदि वे लगन से परिश्रम करते रहेंगे, तो हमें आशा है कि भविष्य में उनका बहुत नाम होगा।

इस समय जैसा सितार-वादन प्रचलित है, उसमें व्यक्तिगत प्रतिभा की प्रधानता है और बहुत हद तक प्राचीन वीणा और रबाब की वाद्य शैली का परित्याग है। यह कहाँ तक ठीक है, इस पर अलग-अलग राय हो सकती है। परन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि पुरानी और आजकल के सितार-वादक पुरानी वाद्य-शैली के सिद्धातों को न ठीक से जानते हैं और न मानते हैं। यदि आजकल के सितार-वादक पुराने वादन के सिद्धांतों का परित्याग करके अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा पर ही निर्भर रहना चाहते हैं तो वे एक प्रकार की अराजकता के गुलाम भी बन सकते हैं। जिनके पास प्रतिभा है और जो कड़ा परिश्रम भी कर सकते हैं, वे यदि प्रतिभा के बल पर मनमानी छोड़कर प्राचीन वादन-शैली के मूल सिद्धांतों का पालन भी करें तो पुराना बाज किसी हद तक सुरक्षित रह सकता है। यदि पुराने बाज के सारे नमूनों का अंत हो जाएगा और हम पुराने बाज के सब नक़्शों को भूल जाएँगे तो प्राचीन वाद्य संगीत और आधुनिक संगीत के बीच एक गहरी खाई पैदा हो जाएगी। जिसे हमारे आधुनिक उन्नतिशील वादक कभी न भर पाएंगे। नई-नई वाद्य शैलियां ◌े का आविष्कार करके हम प्राचीन बाज के तत्वों और सिद्धांतों को बिल्कुल भूल जाएंगे। हिन्दुस्तानी संगीत किसी भी सितार-वादक पर ज़बरदस्ती कोई अनुचित प्रतिबंध नहीं लगाता। परन्तु वादक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता इसलिए नहीं है कि वह परम्परा की विचारधारा का परित्याग करके प्रयोगवाद को ही अपना लक्ष्य बनाए। व्यक्तिगत प्रतिभा का निरंकुश शासन हिन्दुस्तानी संगीत की परम्परा के अनिवार्य नियमों और सिद्धांतों की अवहेलना ही करेगा। यदि प्राचीन बाज की मज़बूत नींव पर हम आधुनिक बाज के ढांचे को खड़ा न करेंगे तो आधुनिक बाज के सहó चमत्कारों से हमारी आँखें चकाचैंध जो जाएंगी और हमारे वादक पथभ्रष्ट हो जाएंगे। हमारे सितार-वादकों को यह सारगर्भित तत्व नहीं भूलना चाहिए।

सरोद

सरोद हिन्दुस्तानी संगीत-सभाओं की सबसे नफीस वीणा है। आजकल यह लगभग सारी दुनिया में जाना जाता है। प्रायः यह दावा किया जाता है कि यह नाम 'शारदा' वीणा से निकला है। किन्तु कल्पना के अतिरिक्त इसका अन्य कोई आधार दिखाई नहीं देता, क्योंकि भारतीय संगीत-साहित्य में इस प्रकार की वीणा की कहीं कोई चर्चा नहीं है। सन् 913 में समरकंद के इलाके से कोई इब्त-अल-अबास आया था, जिसने असाधारण गोलाई का एक तार वाला साज़ बनाया, जिस 'शरुद' कहा गया। प्राचीन भारतीय फारसी साहित्य में भी सरोद की चर्चा हुई है। उत्तर-मध्यकाल के एक हसन निज़ामी दिल्ली सुल्तान के दरबार की एक गायिका का वर्णन करते हैः- ''सुरीली कोकिल बेबस आशिक की तरह बिलीखी और वह सरोद के संगीत और रूद के तारों पर एक आशिक की तरह रोई।'' आगे भी-''एक हसीनपरी चेहरा फूलों-सी महकली, दमकते रुखसारों वाली जिसने कोयल-सा मीठा गया और अपनी गूंजती तानों से अलौकिक जादू कर दिया। रूद और सरोद के संगीत ने संयम तोड़ दिया और अपने मुसिकार (एक वाद्य) के झटकों से उसने ऊँचे आसमानों में उड़ते हुए परिंदों को नीचे ज़मीन तक खींच लिया।'' रूद एक वाद्य था, लेकिन सरोद के बारे में हम निश्चित नहीं हो सके कि यहां सरोद का अर्थ किसी प्रकार की वीणा से है अथवा वह कोई धुन है। आज भी मध्य एशिया में उद पायी

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

जाती है, जो छोटी ग्रीवा वाली एक किस्म की वीणा है। यह सब हमें सोचने को प्रेरित करता है कि सम्भवतः सरोद मध्य एशिया के इसी वाद्य से विकसित हुआ। इनमें न केवल संरचनात्मक साम्य है, बल्कि शब्द का अन्त (उद तथा सर उद) भी ध्यान देने योग्य है। रबाब की तरह यह भी लड़की का बना होता है और कटिमय होता है, परन्तु यह अपेक्षाकृत उथला होता है। दूसरा अन्तर यह है कि दंड पर लकड़ी की बजाए धातु की पत्तियां होती हैं। चार मुख्य तन्त्रियां, चार सहायक, दो आधार के लिए और लगभग एक दर्जन अनुगूँज (तरब) के लिए होती हैं। ये सभी धातु की बनी होती हैं। सरोद भी रबाब की तरह लकड़ी के एक छोटे-से टुकड़े 'जीवा' से बजाया जाता है। रबाब के अनुकरण पर बना वाद्य (सरोद) भारतीय तंत्रकारी में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसे 'शारदीय वीणा' का अपभ्रंश माना जाता है, परन्तु चूंकि मध्यकालीन संगीत ग्रंथों में इस नाम से कोई वाद्य उपलब्ध नहीं होता, अतएव इसके वर्तमान रूप को रबाब का ही परिवर्तित रूप मानना अधिक उपयुक्त होगा। इसे दो शैलियों में बजाया जाता हैः- 1. रबाब की शैली, और 2. स्वर श्रृंगार शैली। तानसेन-परम्परा के बासत खाँ की शिष्य परम्परा में रबाब की शैली प्रचलित रही और रामपुर के उस्ताद वज़ीर खाँ की परम्परा में सुरसिंगार की शैली अपनाई गई।

सरोद में मुख्य चार तार होते हैं और 12 तार तरबों के होते हैं। ये तरबें मुख्य तारों के नीचे से लगी रहती है और सरोद की झंकार को बढ़ाने में सहायक होती हैं। वर्तमान समय में इसे प्रचार में लाने का श्रेय हैदरअली खाँ को दिया जाता है, जो इस साज़ को काबुल से लाए। उनके पुत्र गुलामअली के तीन पुत्र थेः- हुसैनअली, मुरादअली तथा नन्ने खाँ। नन्ने खाँ ने सरोद की तालीम तानसेन-परम्परा के प्रसिद्ध रबाब वादक बासत खाँ तथा रामपुर के गुलाम मुहम्मद से हासिल की। आफताबे सरोद उस्ताद हाफिज़अली खाँ (ग्वालियर) इन्हीं नन्ने खाँ के पुत्र थे। बासत खाँ के दूसरे शिष्य नियमतुल्ला थे, जिनके पुत्र करामतुल्ला सरोद के श्रेष्ठ वादक हुए हैं। इस साज़ के विश्व प्रसिद्ध वादक मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ थे, जिन्होंने जयपुर के अहमदअली तथा रामपुर के उस्ताद वज़ीर खाँ से शिक्षा हासिल की। उन्हीं के पुत्र अलीअकबर खाँ इस इस साज़ के सफल कलाकर के रूप में समस्त संसार में प्रसिद्ध थे।

'सरोद' शब्द की उत्पत्ति अरबी शब्द शहस्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'संगीत'। अरब का शहस्द और अफगानिस्तान का रबाब मिलकर ही भारत का सरोद बना। इसमें सारंगी तथा वीणा, दोनों के गुण विद्यमान हैं। यह गतकारी के लिए उत्तम वाद्य हैं। इसकी ध्वनि बड़ी मधुर होती है।

तानपूरा

शास्त्रीय गायन में तानपूरे की संगति से गायक अपनी आवाज़ की स्वाभाविकता नहीं खोता। इस वाद्य से एक प्रकार की धुन सी निकलती है, जिससे गायक को पता चलता रहता है कि उसकी स्वाभाविक आवाज कौन सी है। नहीं तो वह पतला या ज़्यादा ऊँचा गाना शुरू कर सकता है जिससे आगे चलकर आवाज़ फट जाएगी। तानपूरे की संगति से गायक कभी बेसुरा नहीं हो सकता। इसी कारण इसे 'भारतीय संगीत का मूलाधार' कहते हैं। लकड़ी के बने इस वाद्य के नीचे कद्दू का तूँबा लगा होता है। इसमें चार तारें लगी होती हैं, जिन्हें क्रमशः मध्य पंचम, मध्य सा और मंद्र सा से मिलाते हैं। ध्यान से सुनने पर इन चार तारों के छेड़ने पर जो ध्वनि की उत्पत्ति होती है उसमें से सातों स्वरों की ध्वनि सुनाई देती है।

प्रचलित 'तानपूरा' शब्द को 'तंबूरा' शब्द का अपभ्रष्ट रूप कहा जा सकता है। कहते हैं, तम्बरू नामक गंधर्व द्वारा इस वाद्य का आविष्कार किया गया था, इसीलिए उसी के नाम पर इसे 'ताम्बूरम् या तंबोरा' कहा गया। पाणिनीय शिक्षा में 'अलाब' नामक दिस्वरी अर्थात् द्वितंत्री (दो तार वाली) वीणा का उल्लेख मिलता है। अलाबू शब्द का अर्थ तुम्ब फल

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

या तुम्बा होता है। पाणिनीय शिक्षा में उल्लिखित द्वितंत्री वीणा 'अलाबू' को तुबरु कहना वास्तविकता के अधिक समीप होगा। ऐसी स्थिति में मुख्यतः 'अलाबू' अर्थात् 'तुम्बफल' या तुम्बा पर आश्रित इस वाद्य को 'तंबूरा' कहना अधिक उचित है। आज भी महाराष्ट्र तथा भारत के अनेक भागों में 'तानपूरा' शब्द के स्थान पर 'तंबूरा' शब्द अधिक प्रचार में दिखाई देता है। 'तानपूरा' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार-स्वरूप विशिष्ट उल्लेख भी अप्राप्य है, इसलिए 'तंबूरा' शब्द का 'तानपूरा' अपभ्रष्ट रूप है, यही अनुमान किया जा सकता है।

उत्तरी तथा दक्षिणी, दोनों संगीत पद्धतियों में तम्बूरे का प्रयोग गायन, वादन तथा नृत्य तीनों के साथ स्वर देने के लिए किया जाता है। श्रुति-शुद्धता तथा षड्ज स्वर का स्थायित्व भारतीय संगीत का सर्वाधिक अंग होने के कारण इस वाद्य का निरन्तर बजाया जाना अनिवार्य माना जाता है। पाश्चात्य संगीत में न तो श्रुति के सूक्ष्म भेदों का प्रयोग होता है, न आरम्भिक या टोनिक स्वर ही स्थायी रहता है। अतएव वहाँ तम्बूरे जैसे निरन्तर स्वर देने वाले वाद्य की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

इस वाद्य का उद्भव कब और कैसे हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। भारत के प्राचीन तथा मध्ययुगीन चित्रों तथा शिल्पों में कहीं भी इस वाद्य का चित्र प्राप्त नहीं होता। प्राचीन काल में गायक के साथ स्वर देने के लिए एकतंत्री एवं द्वितंत्री जैसी वीणाओं की तंत्रियों को निरन्तर छेड़ा जाता था, ताकि गायक का ध्यान आरंभ स्वर पर सदा केन्द्रित रहे। प्रतीत होता है कि इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए संवाद-सिद्धांत के आधार पर चार तंत्रियों वाला तम्बूरा प्रचार में आया है।

सुरबहार

यह आकार-प्रकार में सितार के समान होता है। इसमें आठ तार होते हैं, जो म, स, प (मन्द्र), स (मन्द्र), प, स, स, स (तार) में मिलाए जाते हें। इसके तार कुछ मोटे होते हैं। मीड़युक्त आलाप एव ंगमक निकालने के लिए इसमें काफी गुंजाइश होती है। सितार के समान यह भी कोण या मिज़राब से बजाया जाता है। बजाने में सितार की भाँति दोनों हाथों का उपयोग होता है। सितार की सारिकाएँ विशिष्ट स्वरावली स्थापित करने के लिए प्रायः सरकाई जा सकती हैं, परन्तु सुरबहार की सारिकाएं अचल अर्थात् स्थायी रूप से बंधी रहती हैं।

रामपुर के वज़ीर खां के दादा उमराव खां (जो प्रसिद्ध वीणा वादक थे) के शिष्य गुलाम मुहम्मद को इसका आविष्कारक होने का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने सितार का आकार बड़ा करके और उसमें चिकारियों की योजना कर 'सुरबहार' का निर्माण किया। उनके पुत्र सज्जाद मुहम्मद भी इसके अच्छे कलाकार थे। एक अन्य मत के अनुसार, प्रसिद्ध सितार-वादक शेहदाद खां ने सितार में सुधार कर इस नए वाद्य का आविष्कार किया। प्रसिद्ध सितार-वादक इमदाद खां के पुत्र वहीद खां इस वाद्य के श्रेष्ठ कलाकार रहे। मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ अनेक वाद्यों के साथ इस वाद्य को भी सफलता से बजाते थे। उनकी पुत्री अन्नपूर्णा देवी द्वारा यह परम्परा आज भी सुरक्षित है।

सुरसिंगार

यह वाद्य रबाब के आकार का, किंतु कुछ लम्बा और चैड़ा है। इसकी तंत्रियों की संख्या वही है, जो रबाब में होती है। रबाब की भांति यह भी सारिका-विहीन या परदों से रहित वाद्य है। इसे यदि रबाब का जवाब कहा जाए तो आपत्ति नहीं। इसके सिरे पर जहां स्वरों के लिए खूंटियां लगी रहती हैं, नीचे तुम्बा लगा रहता है जिससे साज़ की गूंज बढ़ने में सहायता मिलती है। रबाब के विरुद्ध इसकी तंत्रियां धातु की बनी होती हैं और तारों के नीचे सरोद जैसी धातु की पट्टी लगी होती

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

है, जिससे स्वरों पर उंगलियां सरलता से खिसकती हैं। इस वाद्य में आठ तार होते हैं जिन्हें क्रमशः स, स, प, स, ग, स, रे और प में मिलाया जाता है। वादन मुख्यतः पहले तीन तारों पर किया जाता है। अन्तिम दो तारों को राग के अनुसार बदल दिया जाता है। इसमें चिकारियां लगी होने के कारण झाले का काम भली-भांति किया जा सकता है। यह वाद्य रबाब एवं सरोद के बीच वाली स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। इसके आविष्कार के संबंध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। एक मत यह है कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के गुरु प्यार खाँ ने इस वाद्य का आविष्कार किया, जो रीवां के महाराज विश्वनाथ सिंह की सभा के माने हुए तंतकार थे। एक अन्य मत के अनुसार, रामपुर के भूतपूर्व नवाब कल्बअली खां ने इस वाद्य का आविष्कार किया था। एक मत यह भी है कि तानसेन की परम्परा के जफ़र खां नामक वादक ने पिछली शताब्दी के आरंभ में रबाब के आधार पर इसका आविष्कार किया। जफर खां सर्वप्रथम लखनऊ-दरबार में रबाब-वादक रहे, परन्तु बाद में स्थायी रूप से बनारस बस गए। ये शुरू में रबाब बजाते थे, परन्तु एक बार इन्होंने देखा कि जानवर की खाल से मढ़े जाने के कारण तथा चरबी की तांते लगी होने के कारण बरसात के मौसम में यह वाद्य एकदम मद्धा पड़ गया। इसलिए उन्होंने लोहे व पीतल के तार तथा नीचे की ओर धातु की पट्टी जोड़कर इस नए साज़ का निर्माण किया।

जफर खां के उत्तराधिकारी बहादुरहुसैन ने अपने मामा प्यार खां सुरसिंगार की शिक्षा प्राप्त की तथा इस साज़ को लोकप्रिय बना दिया। रामपुर के सर्वश्रेष्ठ बीन-वादक उस्ताद वज़ीर खां, उस्तात द्दम्मन खां उनके भाई हैदरअली आदि इस साज़ के उत्कृष्ट वादक रहे हैं।

स्वरमंडल

यह एक प्राचीन वाद्य है, परन्तु पिछले 50 वर्षों से अधिक प्रचार में आया है। इसका सोलो वादन बहुत कम पाया जाता है। कुछ गायक अवश्य अपने गायन के साथ सुर भरने के लिए इसको स्वयं बजाते रहते हैं। तम्बूरे के माध्यम से गायक को केवल 'प, स, स, इन चार ही स्वरों की उपलब्धि होती है, परन्तु स्वरमंडल से उन्हें विभिन्न रागों की स्वरावलियां तक मिल जाती हैं। यह अरब और मिó देश के 'कानून' नामक वाद्य से मिलता-जुलता है। यह लगभग 3 फुट लम्बा, 1.5 फुट चैड़ा और 7 इंच ऊँचा होता है। इसमें 21 से लेकर 19 तक तंत्रियाँ होती हैं, जिनको बजाने के लिए उँगली, नाखून या मिज़राब का प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग इसे 'नारदी' या 'महती' वीणा का रूपान्तर मानते हैं। महती वीणा में 21 तंत्रियाँ हुआ करती थीं। 'संगीत-रत्नाकर' के अनुसार, ऐसी वीणा का नाम 'मत्तकोकिला' था। उसके टीकाकार कल्लिनाथ के अनुसार, इसी को लोकभाषा में 'स्वरमंडल' कहा जाता था। इसकी उत्पत्ति प्राचीन शततंत्री वीणा से भी मानी जाती है। इसका एक रूप आज कश्मीर के 'सन्तूर' में मिलता है। यह शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ है-'सौ तार'। शततंत्री वीणा प्राचीन वैदिक वाद्य है, जिसका प्रचार सूत्रकार कात्यायन के भी पहले से था। वैसे, इसे 'कात्यायनी वीणा' भी कहा जा सकता है। आधुनिक सन्तूर में सौ तार होते हैं और प्रत्येक घुड़च पर चार तार लगे रहते हैं। 4-4 तार एक ही स्वर में मिलाए जाते हैं। लकड़ी के दो मिज़राबों से इसे बजाया जाता है। जोड़, झाला, लयकारी आदि के साथ तरबों की झंकार खास विशेषता रखती है।

स्वरमंडल बजाने की तीन विधियाँ हैं। पहली विधि में वाद्य को हाथ की उँगलियों से बाजाया जाता है। गायक लोग जब अपनी संगति के लिए इस वाद्य का प्रयोग करते हैं, तब इसकी तंत्रियों को वांछित 'मेल' में मिला देते हैं और हादिने हाथ की उँगलियों से तंत्रियों को छेड़ते रहते हैं। दूसरी विधि के अन्तर्गत दाहिने हाथ की पहली व दूसरी उँगलियों में मिज़राबें

पहनी जाती हैं और इसी से तारों को छेड़ा जाता है। बाएँ हाथ में अँगूठी या शंख के आकार की गोल वस्तु को लेकर उससे तंत्रियों को दबाया जाता है और विभिन्न गमक तथा अलंकार निकाले जाते हें। तीसरी विधि के अन्तर्गत दोनों हाथों में जलतरंग की भाँति दो लकड़ियाँ लेकर तारों को छेड़ा जाता है, जिससे खुले स्वर तो बराबर निकलते हैं परन्तु मीड़ जैसी क्रियाएँ नहीं हो पातीं। स्वरमंडल के वादकों में स्वामी डी.आर. पार्वतीकर का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। उन्होंने इस साज़ में कुछ परिवर्तन किए। चार स्वरमंडल एक साथ बजाने की एक अद्भुत शैली का आविष्कार भी उन्होंने किया। इसी का जो दूसरा रूप सन्तूर नाम से प्रसिद्ध है, उसके वादक के रूप में कश्मीर के पं0 शिवकुमार शर्मा विख्यात हैं।

रबाब

'रबाब' शब्द अरबी है। आरम्भ में इस शब्द का प्रयोग हर किसी वाद्य के लिए किया जाता रहा, परन्तु बाद में यह विशिष्ट वाद्य का बोधक हुआ। इसके वर्तमान रूप के विकास में मध्य एशिया के 'रिबेक' नामक वाद्य का कुछ योगदान माना जाता है। भारत तथा अरब के परस्पर सम्पर्क तथा सम्बन्धों को देखते हुए इसका मूल रूप मध्ययुगीन 'आलापिनी' वीणा में खोजा जा सकता है। इस वीणा पर ताँत के तार लगाए जाते थे। धातु के तार वाले वाद्यों से 'वीणा' विकसित हुई और ताँत वाले वाद्यों से 'रबाब' का रूप विकसित हुआ। कुछ लोग इसे रुद्रवीणा से उत्पन्न मानते हैं, परन्तु रुद्रवीणा से इसके रूप व रचना की भिन्नता को देखते हुए इसे आलापिनी वीणा का परिवर्तित रूप मानना अधिक उत्तम होगा। यह वाद्य भारत के अलावा मलाया, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका तथा अफगानिस्तान जैसे देशों में भी प्रचलित है।

यह वाद्य एक लम्बे तथा खोखले डाँड से बनता है। इसके नीचे की ओर लकड़ी का एक तुम्बा होता है, जो डांड का ही एक हिस्सा होता है। तुम्बे वाला भाग कुछ चैड़ा और ऊपर से चपटा होता है तथा दूसरे छोर की ओर, जहाँ खूँटियाँ लगी रहती हैं, सिकुड़ता हुआ चला जाता है। तुंबे का ऊपरी हिस्सा भेड़ की खाल से मढ़ा रहता है, जिसको 'माँद' कहते हैं। इसके ऊपर बीच में लकड़ी की घोड़ी या घुड़च रखी रहती है, जिसे 'घुड़च-घनी' कहते हैं। दूसरी ओर जो घुड़च होती हे, उसे 'तार-घनी' कहते हैं। इन्हीं दोनों के सहारे रबाब के तार सम्हले रहते हैं। तार छह होते हैं, जो ताँत से बने होते हैं। ये क्रमशः मध्य प, मध्य रे, मध्य सा, मन्द्र प, मन्द्र म और मन्द्र सा में मिलाए जाते हैं। इनको क्रमशः जीर, म्यान, सुर, मन्द्र, घोर और खरज कहते हैं। इनको बजाने के लिए प्रायः लकड़ी या हस्तिदन्त का तिकोना टुकड़ा काम में लाया जाता है, जिसको 'जवा' या 'जरब' कहते हैं। दाहिने हाथ के अँगूठे और पहली तथा दूसरी उँगली से जवे को पकड़कर तारों पर प्रहार किया जाता है और बाएँ हाथ की उँगलियों से ताँत को डाँउ पर दबाकर स्वर निकाले जाते हें।

रबाब का बाज मध्य लय की आलापचारी का है, जिसमें वीणा के समान मीड़ का विलम्बित अंग प्रायः नहीं पाया जाता। इसकी वादन-शैली में गमक, जोड़, छूट, छपक तथा तार-परन जैसे अलंकार बजाए जाते हैं। तार-परन के अन्तर्गत तबले के आघातों की ध्वनि वाद्य पर निकाली जाती है।

छपक को निकालने के लिए बाएँ हाथ की उँगलियों से तंत्रियों पर हलका सा आघात किया जाता है। ताल की गति को स्पष्ट करने के लिए माँद पर बाईं हथेली से प्रहार करने की प्रथा है। सामन्यतः इसकी वादन-शैली बीन की शैली से मिलती-जुलती है। अन्तर यह है कि बीन में विलम्बित मीड़ के लिए जितनी गुंजाइश रहती है, उतनी रबाब में नहीं। बीन में सारिकाएँ होती हैं, जो रबाब में नहीं होतीं। बीन में चिकारियाँ होने के कारण स्वरों का 'भरना' सदैव चलता रहता है

Swar Sindhu: National Peer-Reviewed/Refereed Journal of Music
A UGC CARE listed Journal
ISSN 2320–7175 | Volume 10, Issue 01, January-June 2022
http://swarsindhu.pratibha-spandan.org © The Author(s) 2022

और मूल स्वर की ध्वनि अखंड गुंजित होती रहती है। किन्तु रबाब में चिकारी के तार न होने से उनका कार्य सुर के तार से ही लेना पड़ता है।

इस वाद्य का विशेष प्रचार अफगानिस्तान तथा पंजाब की ओर विशेष रूप से दिखाई देता है। पंजाब में सिख-बानियों की संगति के लिए इसी वाद्य का प्रयोग किया जाता रहा। गुरु नानक तथा उनकी शिष्य-परम्परा में इस साज़ को विशेष पसन्द किया गया था। तानसेन को यह वाद्य प्रिय था और उनके पुत्रवंश में यह बराबर प्रचलित रहा। यह घराना 'सेनिया' के नाम से प्रसिद्ध है। इस परम्परा में गुलाम खाँ के तीन पुत्र-जफर खाँ, प्यार खाँ और बासत खाँ थे, जिन्होंने इस वाद्य के प्रसार में काफी योगदान दिया। बहादुर सिंह, हैदरअली तथा वज़ीर खाँ (रामपुर) इस वाद्य के श्रेष्ठ वादक रहे हैं।

निष्कर्ष

अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय शास्त्रीय संगीत में तंत्री वाद्यों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। यह सभी वाद्य जिनमें सितार, सरोज, सुरबहार, संतूर, तानपुरा इत्यादि शामिल हैं संगीत की सभी शैलियों में प्रयुक्त होते हैं। यह शैलियां चाहे शास्त्रीय संगीत की हों, सुगम संगीत की हों, फिल्म संगीत की हों या अन्य संगीत विधाएं, इन सभी तंत्री वाद्यों ने भाव, रस, सौंदर्य इत्यादि के प्रकटीकरण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई है। इन तंत्री वाद्य यंत्रों के बिना संगीत से उसकी सुंदरता को निष्पादित करना संभव नहीं हो सकता।

संदर्भ ग्रंथ

बृहस्पति, डा. कैलाशचन्द्रदेव (1956) भरत का संगीत सिद्धांत, सूचना विभाग, उ. प्र.।
श्रीवास्तव, डा. धर्मावती(1967) प्राचीन भारत में संगीत, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।
परांजये, डा. शरच्चन्द्र श्रीधर(1969) भारतीय संगीत का इतिहास, चैखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
अहोबल (1971) संगीत परिजात, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ.प्र.।
चक्रवर्ती, डां इन्द्राणी (1988) संगीत-मंजुषा, मित्तल पब्लिकेशन, दिल्ली।